
स्वरूप-साधना का मार्ग : योग एवं भक्ति

—आचार्य मुनिश्री सुशीलकुमार जी

(प्रख्यात धर्म प्रवक्ता, विश्वधर्म सम्मेलन के संयोजक,
विदेशों में अहिंसा एवं शाकाहार प्रचार में संलग्न)

जैन परम्परा आत्मा में अनन्त शक्ति मानती है। और, उस शक्ति का पूर्ण विकास कर आत्मा से परमात्मा बनने की उसमें क्षमता है। श्री हेमचन्द्राचार्य ने इस आत्मशक्ति के पूर्ण विकास का साधन योग बताया है।

जबकि आचार्य हरिभद्रसूरि ने सभी दुःखों से मुक्त होने के साधन को योग कहा है। आत्मा की सभी दुःखों से मुक्ति होकर निज स्वभाव की प्राप्ति योग द्वारा होती है।

सभी धर्म मनुष्य को दुःखों से मुक्त होने का उपाय बताते हैं, क्योंकि मनुष्य की सहज प्रेरणा दुःख से मुक्त होकर सुख-प्राप्ति की होती है। उसमें योग ऐसी प्रक्रिया है जिससे मनुष्य दुःख से मुक्त होता है।

वैसे मनुष्य सुख-प्राप्ति के प्रयत्न करता है पर सुख-प्राप्ति के प्रयत्नों के बावजूद अधिकांश लोग सुख-प्राप्ति में सफल नहीं होते बल्कि दुःखी पाये जाते हैं। क्योंकि वे सुख-प्राप्ति का जो मार्ग विविध धर्मों ने बताया है, तदनुसार आचरण न कर अपनी कल्पना से सुख-प्राप्ति के अन्य प्रयत्न में लगे हुए हैं।

सुख-प्राप्ति का मार्ग—जैनधर्म ने योग के रूप में बताया है। प्रायः सभी धर्म उसी मार्ग से मनुष्य को दुःख से मुक्त होने का उपदेश करते हैं।

मनुष्य के सुख-प्राप्ति में बाधक कौनसी बातें हैं जो उसे दुःखी बनाती हैं? यह विचार करने पर दिखाई देगा कि राग और द्वेष यह दो उसके ऐसे महान शत्रु हैं जो उसे सुख के मार्ग से भटकाकर दुःख में डालते हैं। समस्या का मूल राग-द्वेष-कषाय है। कषाय से मन या चित्त रंगा जाता है। राग से रंगा हुआ मन प्रीति का अनुभव करता है और प्रीति से लोभ, माया, वासना, और परिग्रह के प्रति मोह जागता है। द्वेष अहंकार को जन्म देता है। अहंकार से कोध, घृणा और निरस्कार उत्पन्न होता है। जिससे दुःखों की परम्परा का निर्माण होकर अनन्त सुख जिसका सहज स्वभाव है, वह आत्मा दुःखी बनती है। उस पर कषायों के कारण विविध आवरण आकर दुःख का अनुभव करने लगती है।

आत्मशक्ति को जाग्रत करने के लिये धर्म-विद्या, दार्शनिक चिन्तन और यौगिक अनुसन्धान आदि विधाएँ हैं। धर्म के अभ्यासियों ने, दर्शन के आचार्यों ने और योग के साधकों ने जीवन की अनुभूतियों और शक्तियों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि सारा विश्व उन उपलब्धियों से अभिभूत है।

कषाय के कारण आत्मशक्ति पर आवरण आ गया है, अतः हम दुःखी बने बैठे हैं, उससे मुक्त होने का व्यवस्थित और मनोवैज्ञानिक मार्ग योग है।

वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों का यदि कहीं समन्वय होता है तो योग विद्या में ही होता है। आध्यात्मिक धरातल पर सभी को योग को अपनाना होता है। दुःख-मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन योग है।

जैनधर्म ने सारे दुःखों का मूल हिंसा माना है और परम मांगल्य अहिंसा को। अहिंसा सभी सुखों की जननी है। अहिंसा की व्याख्या है—प्राणीमात्र के प्रति समता।

बुद्ध ने भी शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा समता लाने को कहा है। और गीता का तो हार्द ही समता है।

योग इस समता को जीवन में उतारने का अभ्यास है जिसके फलस्वरूप जीवन में समता आकर मानव जीने की कला सीखता है। दुःखी जीवन को सुखी बनाने की कुञ्जी उसके हाथ लगती है।

अन्य धर्मों ने भी वही बात दुहराई है। इसलिये योगमार्ग का प्रचार धर्म का प्रचार है और धर्म का प्रचार ही जैनत्व का प्रचार है।

जैनधर्म आचार में अहिंसा के द्वारा समता और विचार में अनेकान्त के द्वारा व्यापकता लाने को कहता है, समता को पुष्ट करता है और सबके प्रति आत्मवत् व्यवहार करने के लिये संयम अपनाने को कहता है। समता का प्रारम्भ अपने से करना होता है और उसके लिये योग सर्वोत्कृष्ट साधन है।

जैन धर्म सबको आत्मवत् मानने वाला आत्मधर्म है। उसकी सारी क्रियाएँ—कर्मकांड इमी पर आधारित हैं। आत्माभिमुख—अन्तर्मुख बनने के लिये हैं। प्राधान्य अन्तर्मुखता है, कर्मकांड और क्रियाएँ गौण हैं। एक अनुभवी योगी ने बताया है कि सभी तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ—धर्मतीर्थ मन है—आत्मा है। अज्ञानी ही बाहर ढूँढते हैं। मन का मैल धोना है तो उसे अन्तर्मुख बनाकर अभ्यास करना होगा।

आभ्यन्तर विकास और प्रज्ञा के प्रकर्ष के लिये योग के सिवा कोई दूसरा प्रभावशाली मार्ग नहीं है। जैनधर्म में ऋषभदेव से लगाकर महावीर तक २४ तीर्थंकर परमयोगी थे। भगवान महावीर के साधनाकाल का जो वर्णन मिलता है उसमें ध्यान पर अधिक भार दिया गया है। उन्होंने समता की ऐसी साधना की कि साधनाकाल में जो भयानक उपसर्ग लोगों की ओर से दिये गये वे समतापूर्वक सहन किये।

अपने आप की अनुभूति पाना हो तो चित्त को समता में लगाकर अपने आपको देखो। अपने आप की अनुभूति पाना ही सम्यक्दर्शन है। बिना सम्यक्दर्शन के सम्यक्ज्ञान सम्भव नहीं और बिना सम्यक्ज्ञान के सम्यक्चारित्र्य आ नहीं सकता। और बिना सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य के दुःख-विमुक्ति सम्भव नहीं।

इसीलिये जैन-साधना में कायोत्सर्ग का अत्यन्त महत्व है। काया--शरीर जिसका क्षण-क्षण में परिवर्तन होता है। उत्पाद-व्यय का क्रम चल रहा है। उस काया में जो कुछ चल रहा है, उसे देखना। मन में चलने वाली प्रत्येक वृत्ति, तरंग या संवेदना को देखना, तटस्थतापूर्वक देखना। बाहर से चित्त को अन्तर्मुख करना सम्यक्दर्शन है। उस देखने में किसी प्रकार का राग-द्वेष न हो, समतापूर्वक देखना यह योग की दूसरी क्रिया है।

पहली कायोत्सर्ग की, जिसमें काया को भूलकर श्वास का ध्यान करना और दूसरी क्रिया में शरीर में चलने वाली क्रिया को सजग होकर देखना। जब मन को बाहरी दुनियाँ से अपने आप को देखने

में लगाते हैं तो सहज में वह अपने आप को देखने में केन्द्रित होता है। और चूंकि वह राग-द्वेष से रंगा नहीं होता है तो ग्रन्थि बंधन नहीं होता और नई ग्रन्थि न बँधने से मनुष्य निर्ग्रन्थ बनता है।

न मालूम हम इस राग-द्वेष के कारण कितनी ही ग्रन्थियाँ बाधते जाते हैं। तनाव से बेचैन होते हैं। यदि हम बैठकर या खड़े रहकर अथवा तो सोकर कायोत्सर्ग द्वारा शरीर का शिथिलीकरण करें और मन को आते और जाते श्वास पर केन्द्रित करें तो कितनी शान्ति और ताजगी पा सकते हैं !

हम शारीरिक क्रियाओं द्वारा शरीर का प्रकंपन करते रहते हैं, मन, विविध विषयों में घूमता है तो उसका प्रकंपन होता है और वाणी द्वारा भी प्रकंपन होता रहता है। इस शक्ति को यदि हम एक स्थान पर बैठकर, शारीरिक प्रकंपनों को, मौन द्वारा वाणी के कारण होने वाले प्रकंपनों और श्वास की एकाग्रता द्वारा मानसिक प्रकंपनों को रोक सकें तो स्वाभाविक ही हमारी उर्जा-शक्ति बचेगी और हम अपने आप की अनुभूति लेने को उसे लगायेंगे और स्व के दर्शन का जो ज्ञान होगा वह हमें सम्यक् आचार की ओर प्रेरित करेगा।

जैन साधना में योगदृष्टि के ८ प्रकार बताये गये हैं जिससे रागद्वेष घटकर परिणाम शुद्ध बनते जाते हैं। वे भेद इस प्रकार हैं—

१. मित्रा २. तारा ३. बला ४. दीप्रा

५. स्थिरा ६. कान्ता ७. प्रभा ८. परा।

मित्रा दृष्टि

प्रथम दृष्टि मित्रा है, जिसमें राग-द्वेष हल्के होते हैं, किन्तु होते हैं कुछ ही मात्रा में, इसमें जो बोध होता है वह चिनगारी की तरह क्षणिक और कम होता है। जिस वस्तु के प्रकाश में अनुभूति स्पष्ट नहीं होती। वह यह निर्णय नहीं कर पाता कि क्या अनिष्ट है और क्या इष्ट है ? उसके मन में अच्छे विचार तो आते हैं पर वे स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकते। वह धार्मिक क्रियाएँ प्रथा के रूप में करता है पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन चित्त की मलिनता कम हो, इसलिये नहीं करता, पर शुभ कार्यों में स्वतः रुचि होने लगती है। प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव बढ़ने लगता है। रागद्वेष की ग्रन्थियाँ घटने लगती हैं, चित्त में निर्मलता आने लगती है। अभ्यास बढ़ाने से तारा दृष्टि तक पहुँचा जाता है।

तारा दृष्टि

मित्रा दृष्टि से इसमें राग-द्वेष का प्रभाव कुछ अधिक हल्का होता है। ज्ञान, विचार शक्ति व बोध पहले से अधिक होता है पर स्थायित्व अब भी नहीं आता। आत्मविकास के लिये वह अधिक प्रयत्नशील रहता है। शौच, सन्तोष, आत्मानुशासन तथा स्वाध्याय करता है। तथा जिन्होंने उच्च स्थिति पाई उनका स्मरण कर उनके विकास पथ का अनुसरण करने लगता है। चित्त अधिक निर्मल होने से उद्वेग कम होता है। विवेक जगने लगता है। अपने दोष और कमियों के लिये खेद तथा आत्मा के उत्थान की जिज्ञासा जाग्रत होने लगती है।

बला दृष्टि

साधक अभ्यास में ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसे आसन का अभ्यास बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। शरीर की स्थिरता के बिना चित्त की स्थिरता नहीं होती इसलिये एक आसन पर अधिक

देर तक बैठने का अभ्यास बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। ज्यों ज्यों अभ्यास बढ़ता है, श्रेय का बोध अधिक स्पष्ट होने लगता है। जो चित्त बाहर दौड़ता रहता था उसे स्वभाव में लाने की चेष्टा साधक करता है जिससे अज्ञान के संस्कार कम होकर ज्ञान के संस्कार बढ़ने लगते हैं। कषायों की तीव्रता कम होने लगती है। विषयों का आकर्षण कम होने लगता है। सुख-दुःख, हर्ष, शोक का मन पर प्रभाव कम होने लगता है। निरर्थक बातों में रस कम होने लगता है। दुःखमुक्ति का उपाय जानने की इच्छा तीव्र होती है। तृष्णा कम होने लगती है। प्राप्त परिस्थिति में सन्तोष मानने लगता है। प्रतिकूल परिस्थिति से घबराता नहीं। भागदौड़ अपने आप कम हो जाती है। कार्य सावधानी व सतर्कता से करने लगता है। नई ग्रन्थियों का बँधना कम हो जाता है इसलिये कर्मक्षय होकर आत्मा पवित्रता के पथ पर अग्रसर होने लगती है।

दोषा दृष्टि

अभ्यास बढ़ने से रागद्वेष कम होते जाते हैं, चित्त अधिक निर्मल होने लगता है। बोध स्पष्ट होने से आचरण भी शुद्ध और पवित्र बनता जाता है। इस भूमिका में साधक प्राणायाम का अभ्यास बढ़ाता है जिससे चित्त एकाग्र बनने में आसानी होती है। साधक की बाह्य दृष्टि कम होकर अन्दर की ओर अधिक ध्यान देने लगता है। सदाचार के प्रति निष्ठा ही नहीं, पर वह आचरण में भी आता है। चित्त की शान्ति बढ़ने लगती है।

स्थिरादृष्टि

साधक अभ्यास आगे बढ़ाता है तो राग-द्वेष की ग्रन्थी टूटने लगती है। साधक का मन यदि विषय-विकारों की तरफ जाता है तो उसे वापिस आत्मानुभूति में लगाता है। आत्मानुभूति से जो ज्ञान होता है, वह स्वयं का होता है जिससे वह सम्यक्ज्ञान होता है। साधक को शरीर की नश्वरता तथा आत्मा की अमरता का बोध होता है। पुद्गल परमाणुओं से बना शरीर नश्वर और क्षण-क्षण में बदलने वाला है। उसमें उत्पाद और व्यय अखण्ड चल रहा है। नश्वरता का ख्याल कर वह क्षमता को बढ़ाता है। कषायों का उपशमन होने से चित्त की निर्मलता बढ़ती है। चित्त की प्रसन्नता बढ़ती है। दूसरों के साथ के व्यवहार में सौजन्य बढ़ने से साधक दूसरों की भी शान्ति का कारण बनता है। योग की भाषा में कहा जाय तो प्रत्याहार यानी विषय-विकारों की तरफ जाने वाले मन को स्वानुभव की ओर साधक आरोपित करता है। चित्त की भ्रान्ति दूर होकर निस्सन्देह मन से साधक के द्वारा सहजभाव से निष्ठा के साथ सत्कार्य होने लगते हैं। आत्मानुभव बढ़ता जाता है।

कांता दृष्टि

ज्यों-ज्यों चित्त की एकाग्रता का अभ्यास बढ़ता है, साधक की दृष्टि अधिक प्रकाशवान गहरी और स्थिर होती जाती है। आत्मानुभूति सम्यक्दृष्टि का रूप लेती है। अपने आपकी जानकारी वास्तविकता का रूप लेती है। साधक अधिक सजग होकर अपने में होने वाली संवेदनाओं को अधिक स्पष्टता से देखता है। अपने द्वारा होने वाली क्रिया को सावधानीपूर्वक देखता है। चित्त अधिक शुद्ध होकर उसके द्वारा सद्गुणों की रुचि बढ़कर उसके द्वारा सदाचार होने लगता है। साधक के द्वारा होने वाले सदाचार या सत्कर्म में सहजभाव में अनासक्ति बढ़ती जाती है। उसे जो बोध होता है वह अनुभव पर आधारित होने से सहजभाव से उसकी आसक्ति कम होने लगती है। स्व-भाव और पर-भाव को गहराई से देखने लगता है। आत्मा व पुद्गल के भेद को जानने से साधक के चित्त में शान्ति बढ़ती जाती है। आत्मा को मोह मूर्च्छा से अलग रखता है। कर्म-आश्रव छूटने लगते हैं, संवर दशा प्रकट होती है। अनासक्ति के कारण राग-द्वेष का उपशम होकर नई ग्रन्थियाँ बँधती नहीं।

दूसरों के साथ व्यवहार में साधक उदारता का व्यवहार करने लगता है। दूसरों को कष्ट न हो इसलिये सहजभाव से उसमें संयम आता है। वाणी में मधुरता आती है। साधक जनप्रिय बनने लगता है। योग के 'धारण' नामक अंग की प्राप्ति होती है। चित्त को साधक मर्यादित क्षेत्र में सीमित रखता है। जिससे चित्त की चंचलता कम होने लगती है। अब उसे बाहरी भौतिक भोगों में अरुचि होकर चित्त को आत्मस्वरूप में लगाता है। अपने भीतर चलने वाली संवेदनाओं से उसके ज्ञान में वृद्धि होती है। आत्म-विकास में वह अधिक सजग बनता है। अपने स्वरूप में लीन होता है। सजग होकर अपने भीतर चलने वाले व्यापारों को देखता है। उसमें सूक्ष्म बोध जगता है। मनोभावों की शुद्धि हो जाती है। उसका मन बाहरी जगत से अन्तर्जगत् की ओर रमण करने लगता है। जो राग-द्वेष अहता-ममता के कारण आत्मा के शुद्ध स्वभाव पर आवरण आता था, वह दूर होकर निर्मलता बढ़ती है। साधक में समता बढ़ती जाती है। संयम में वृद्धि होती है।

प्रभा दृष्टि

साधक एक आसन पर स्थिर होकर नियमित रूप से सतत ध्यान का अभ्यास बढ़ाता है तो उसमें सातवीं प्रभा दृष्टि प्रकट होती है। जिससे उसका बोध सूर्य की प्रभा की तरह प्रकाशमान होता है। मन विकल्परहित होकर ध्यान में अवण्डता आने लगती है। वह अधिक समय तक ध्यान में स्थिर रहने लगता है। जिससे उसे सहज शान्ति मिलने लगती है। प्राप्त परिस्थिति में समतापूर्वक रहने का अभ्यास इतना अधिक बढ़ जाता है कि बाहरी मुख की कामना ही लुप्त हो जाती है। जो मुख आत्मा पर आवरणों के कारण ढका हुआ था, वह आवरणों के दूर होते ही पूर्णरूप से प्रकट होता है जिससे दुःख का उस पर लेश मात्र भी प्रभाव नहीं रहता। यह स्थिति किसी शास्त्रज्ञान पर आधारित नहीं होती पर चित्त की निर्मलता के कारण आत्मज्ञान पर—स्वानुभव पर आधारित होती है। राग-द्वेष और कषायों का उपशमन हो जाने से नये कर्मों का बंध नहीं होता। पुराने बंधे कर्मों की समता के कारण निर्जरा होने लगती है। दूसरों के साथ समता रखते हुए भी यदि कोई दुर्व्यवहार करता है तो भी साधक उसके प्रति मैत्रीभाव ही रखता है। उस पर आ पड़े उन दुःखों से उद्विग्न नहीं होता। और न ही उसमें सुखों की स्पृहा या लालसा ही होती है। जिससे साधक पर सुख-दुःखों का प्रभाव नहीं होता। वह इन आने वाले सुख-दुःखों के खेल को देखता रहता है। उसकी प्रज्ञा स्थिर हो जाती है।

योग की भाषा में यह स्थिति ध्यान कही जा सकती है जिसमें ध्यान की साधना कर आत्मानु-भव या स्वानुभव की स्थिति का समय अधिक बढ़ाने का प्रयास होता है जिससे कि परादृष्टि की प्राप्ति हो सके।

परादृष्टि

इसे योग की भाषा में समाधि कहा जाता है, जिसमें आत्मा की शुद्ध स्थिति प्राप्त होकर संसार को निर्लेप भाव से साधक देखता है। ध्यान की वह अवस्था प्राप्त हो जाती है जिससे सहज भाव से साधक आत्म-समाधि में लीन हो जाता है। इसे जैन-साधना में शुक्लध्यान कहा जाता है। साधक-जीवन-मुक्त हो जाता है, सभी प्रकार की आसक्तियों से मुक्त रहता है। उसमें केवल आत्मभावना रह जाती है। अपना-पराया का भेद मिटाकर प्राणी मात्र को आत्मवत् देखता है और उनके साथ पूर्ण संयम का आचरण करता है। मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से वीतराग बन जाता है जो अवस्था उसे निर्वाण दशा तक पहुँचा देती है। दुःखों से पूर्ण मुक्ति देकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

धर्मध्यान और भक्ति

जैन-दर्शन में भक्ति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। भक्ति का रूप भिन्न है। इसमें वीतराग की

भक्ति से साधक सामान्य साधना शुरू कर अन्त में निरालम्ब ध्यान की उच्च अवस्था में पहुँचता है। जो आलम्बन लिया जाता है वह वीतराग प्रभु का, जो अपने आप पर विजय पाकर पूर्णत्व को पहुँचे। उसी रास्ते से साधक को सिद्धि प्राप्त करनी होती है। भक्तियोग से ज्ञानयोग में प्रवेश करना होता है जिससे समता तक पहुँच सके और वह अवस्था आती है रूपातीत ध्यान से।

सामान्य साधना भक्ति से ही प्रारम्भ होती है। भक्ति के भी अनेक प्रकार हैं, फिर भी मुख्य-रूप से नवधा भक्ति का ही योगदीपिकाकार ने ५६ वें श्लोक में वर्णन किया है—

श्रवण क्रिया भक्ति—श्रुतश्रवण अन्तरंग वृत्ति
कीर्तन क्रिया भक्ति—आत्मकीर्तन, आत्मघोष
सेवन क्रिया भक्ति—भेदज्ञान से आत्मपरिणति
वचन क्रिया भक्ति—शुद्ध चैतन्य भाव का बारम्बार वन्दन
ध्यान क्रिया भक्ति—धर्मध्यान-शुक्ल ध्यान की परिणति
लघुता क्रिया भक्ति—अहंतानाश—नम्रता की प्राप्ति
एकता क्रिया भक्ति—समत्व भावना
समता क्रिया भक्ति—सभी में समत्व दर्शन का अभ्यास।

जब साधक भक्ति के द्वारा अन्तःकरण निर्मल कर लेता है तो क्रिया और ज्ञान द्वारा अष्टांग मार्ग पर चढ़ने योग्य हो जाता है। ज्ञान से भक्ति मार्ग का प्रतिपादन इसलिये करना पड़ा कि सर्वप्रथम स्वामी-सेवक भाव भक्ति में अवश्य रहता है।

वह अपने स्वामी को परमाराध्य की तरह मानता है और अनेक प्रकार से आत्मज्ञान प्राप्ति के लिये स्वामी का अनुग्रह चाहता है। भक्तिमार्गी स्वामी-सेवक भाव में जब हिलोरें लेता है तो उस प्रेम-अवस्था का भी योगदीपिकाकार ने अलौकिक रूप से वर्णन किया है और उसकी भी चिन्तन-भेद से ६४ अवस्थाएँ बताई हैं।

भक्त, प्रभु के अनन्तरूपों को स्मरण करता हुआ प्रेम-विह्वल होकर प्रार्थना स्वरूप प्रभु से किस-किस प्रकार उपलब्धि चाहता है।

परम प्रभु परमात्मा के अलौकिक स्वरूपों को निहारता हुआ भक्त-साधक तद्गुणलब्धि के लिये प्रार्थना करता है।

परमात्मा के अलौकिक शान्त स्वरूप, अनन्त ज्ञान रूप, अनुपम क्षायिक आनन्द निमग्न, समरस एवं सहज-स्वरूप का दर्शन तथा अनुभूति कर साधक प्रभुमय होकर गुण चिन्तन करता हुआ अपनी सुध-बुध भूल जाता है और परमात्मस्वरूप हो जाने के लिए विकल हो जाता है, आदि-आदि।

वास्तव में यह गुण-चिन्तन की साधना ही साधक को प्रभु के साथ तदाकार बनाती है और आत्मा के निजगुणों को चरम उत्कृष्ट तथा प्रकट करने में सहायक होती है। योगमार्ग का प्रारम्भ ऐसे ही आत्मविश्वासी, प्रभुसमर्पित, वीतराग-उपासक तथा विषय-विरक्त आत्मजिज्ञासुओं के लिए हुआ है।

